Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XIV, Issue No. 1, October-2017, ISSN 2230-7540

महिला उपन्यासकार सामाजिक मूल्य

Rajiv Sharma*

Assistant Professor, RKSD College of Education, Kaithal, Haryana-136027

सार - भारतीय-संस्कृति में धर्म को 'धारण' करने के अर्थ में लिया गया है- 'धारणाद् धर्ममित्याहुः'। यहाँ पर धारण करने का तात्पर्य प्रजा को धारण करने से है अर्थात् जिसके द्वारा समाज एवं मनुष्यत्व सुरक्षित रहे। सामाजिक व्यवस्था तभी सुरक्षित रह सकती है जब सभी अपने कत्र्तव्यों का पालन करे। लेकिन कत्र्तव्यों का पालन सदाचार के अभाव में सम्भव नहीं है। कत्र्तव्य-पालन के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना मनुष्य का धर्म है। इस प्रकार धर्म एवं सदाचार एक दूसरे से अलग नहीं है, बल्कि सदाचार ही धर्म है और धर्म का तात्पर्य सदाचार से हैं। नैतिकता एवं सदाचार से ही सामाजिक व्यवस्था सही दिशा में कार्य कर सकती है। सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड का संतुलन अपनी आन्तरिक शक्ति से चल रहा है लेकिन समाज में संतुलन बनाये रखने के लिये मर्यादा और व्यवस्था स्थापित करनी पड़ती है। मनुष्य भी इस विश्वव्यापी संतुलन में अपने को बनाये रखने के लिए अपनी भावनाओं, विचारों, प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का संतुलन करके अपने व्यक्तित्व को व्यवस्थित करता है।

----------X----------

परिचय

समाज में प्रायः धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योंकि नैतिक नियमों के पालन से ही मानव का हित सम्भव है। प्राचीन उत्तर भारत में मानव की प्रत्येक गतिविधि धर्म पर आधारित थी। अतः धर्म एवं समाज का पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। भारतीय सन्दर्भ में धर्म एक ऐसा व्यापक शब्द है, जो किसी जाति या समाज का इतिहास और उसमें जीवन की भूमिका प्रस्तुत करने में पूरी तरह से समर्थ होता है। भारतीय धरा-धाम पर तो 'धर्म' शब्द में जाति विशेष की सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन प्रणाली के विविध आयाम की प्रक्रिया और निदर्शन प्रस्तुत किया गया है यहाँ पर धर्म को मानव जीवन का मूलाधार माना गया है। भारत का धर्म वस्तुतः साम्प्रदायिक आवरण में संकुचित नहीं है, बल्कि विस्तृत, महान और उदात्त भावना से प्रदीप्त है। प्रारम्भ से ही मनुष्य के सामने यह चुनौती रही है कि उसका जीवन-क्रम किस प्रकार का हो? अपने व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन धारा को हम किस ओर मोड़ें जिसमें हमारा सम्पूर्ण विकास हो सके और योग-क्षेम की भी प्राप्ति हो जाए? प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इसके लिए सदाचार, चरित्र, कर्म या ऋत् को आवश्यक माना है। जीवन से यदि सदाचार को निकाल दिया जाये तो मनुष्य और पशु-जीवन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जायेगा। इसी अन्तरता को बनाये रखने के लिए मनुष्य को शील, संयम आदि की आवश्यकता होती है जो धर्म के अंग के रूप में स्वीकृत है और जिनके पालन की अपेक्षा सभी मनुष्यों से की जाती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में धर्म और सदाचार को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि.... 'धर्मेण हीना पशुभिः समाना' (महा0, 21.294-99), तो यहाँ पर किस धर्म से हीन मनुष्य को पशु के समान कहा जा रहा है? निश्चित रूप से यह कर्मकाण्ड की किसी विधि से रहित मनुष्य के लिए नहीं कहा जा रहा है, बल्कि यहाँ तात्पर्य सदाचरण से ही है।

समाज के साथ वह अपने व्यवहार, आचार, व्यापार, संपर्क और सम्बन्ध को ठीक कर उसे संगठित करता है। अंधविश्वासों और दुराग्रहों को छोड़कर ज्ञान-समन्वित, कर्मपरक मान्यताओं के अनुसार कार्य करना ही धर्म कहलाता है। इनमें बाहरी अभिव्यक्ति, आचार-व्यवहार, कत्र्तव्य और पारस्परिक सम्बन्ध आते हैं जिनसे समाज का ढांचा बनता है। इस तरह का समाज पूरी तरह से धर्म पर आधारित होता है। धर्म का उद्देश्य समाज में संतुलन रखना है। यह संतुलन तभी रह सकता है जब मनुष्य सभी प्राणियों को ईश्वर की सृष्टि समझकर समानता का व्यवहार करे। ऋग्वैदिक आर्यों ने एक व्यवस्था की कल्पना की जिसे उन्होंने 'ऋत्' कहा। इस विश्व-व्यवस्था नियामक को उन्होंने वरूण की संज्ञा दी तथा उससे यह प्रार्थना की कि यदि हम अपने मित्रों, अतिथियों, बंधु-

www.ignited.in

बांधवों या परिवार के सदस्यों के प्रति अपने कत्तव्य का पालन न करें तो वरूण हमें दण्ड दे।1 इसी ग्रन्थ में 'धर्म' का प्रयोग विश्व को धारण करने के अर्थ में भी हुआ है। पक्षपात रहित, न्याय पर आधारित आचरण से ही मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति हो सकती है। इसी को हम धर्म कह सकते है। धर्म के द्वारा वह स्वार्थ का त्याग कर परमार्थ में अपना तन-मन लगाकर आध्यात्मिक सुख को प्राप्त करेगा। ईश्वर ने जो धन-सम्पत्ति उसे दी है उसका भी उपयोग वह अपने परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति में करना अपना धर्म समझेगा। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड को ही धर्म समझा जाता था जबकि उपनिषदों में आध्यात्मिक मार्ग का प्रतिपादन किया गया है उनमें यज्ञादि को इतना महत्व नहीं दिया गया। वृहदारण्यक उपनिषद में संयम, दया और दान एवं सत्यपालन को धर्म कहा गया है।3 गौतम बुद्ध ने रक्तमय धार्मिक आचारों में सुधार करके मौलिक सिद्धान्तों को पुनः लाने का प्रयास किया। उनके अनुसार यदि कोई व्यक्ति धर्म को मन की शुद्धि और शील का साधन बनाने के बजाय अंधविश्वास के साथ उससे चिपका रहे तो यह अनुचित है।4 उन्होंने अहिंसा, सदाचार और त्याग पर सबसे ज्यादा जोर दिया। 'बहुजन हिताय' ही उनके उपदेश का सार है और आत्मसंयम उसका आधार। इस प्रकार बौद्ध धर्म का उद्देश्य भी समाज में तर्कसंगत व्यवस्था स्थापित करना था। बुद्ध एवं महावीर स्वामी के उपदेशों का मानव के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है क्योंकि उनका धर्म चिन्तन समाज व्यवस्था के नैतिक उन्नति पर आधारित था।

महाभारत (शान्ति0, 60.7) में लिखा है कि 'क्रोध न करना, सत्य बोलना, न्याय प्रियता, अपनी विवाहिता पत्नी से सन्तान की उत्पत्ति, सदाचार, व्यर्थ के झगड़ों से बचना, सरलता और सेवकों का पालन पोषण ये नौं सभी मनुष्यों के कर्तव्य हैं।' कर्म, मन और वाणी से किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, उनके प्रति अच्छी इच्छा रखना और दान सज्जनों के सनातन धर्म हैं-

'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।'

(शान्तिपर्व, 162.1)

महाभारत में ही लिखा है कि व्यक्ति को किसी अन्य के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो वह अपने अनुकूल नहीं समझता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस नियम का पालन करे तो समाज में घृणा या वैरभाव होगा ही नहीं और समाज में पूर्ण व्यवस्था रहेगी। जब धर्म की वृद्धि होती है तो समाज की उन्नति होती है और जब अधर्म की वृद्धि होती है तो समाज का पतन होता है। धर्म के कारण ही विश्व शाश्वत रहता है क्योंकि इससे सभी व्यक्ति अपने वर्ण और आश्रमों के कत्तव्य पालन करते हैं। जब व्यक्ति धर्म पालन नहीं करते तो समाज में अव्यवस्था फैल जाती है।14 इसी प्रकार के विचार मनु ने भी दिए हैं 'जब व्यक्ति धर्म का उल्लंघन करते हैं तो समाज नष्ट हो जाता है। जब धर्म की रक्षा की जाती है तो धर्म समाज की रक्षा करता है इसलिए हमें धर्म का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि हम धर्म का उल्लंघन करेंगे तो यह हमें नष्ट कर देगा'-

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।'

(मनु0, 8.15)

नैतिक आचरणों का त्याग कर धर्म के नाम पर समाज के बिखराव या अलगाव की कुचेष्टाओं का एक दिन ऐसा परिणाम होना भी संभव है कि कदाचित् धर्म ही न रहे। उस अधार्मिक, अनैतिक मानव समाज की क्या मान्यताएं होगी, इस भयावहता का अनुमान लगाना कठिन न होगा। इस प्रकार धर्म भारतीय समाज की श्रेष्ठता की कसौटी रहा है।

विशिष्ट धर्म-

इसके अन्तर्गत वे कत्तव्य आते हैं जिनका समय, परिस्थिति और स्थान विशेष को ध्यान में रखते हुए पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक है। ब्राह्मण और शूद्र का एक दूसरे से भिन्न धर्म है अर्थात् अलग-अलग कत्तव्य है, ब्रह्मचारी और गृहस्थ के धर्म में भिन्नता पाई जाती है, स्त्री और पुरूषों का धर्म, पिता और पुत्र का धर्म, गुरू और शिष्य का धर्म एक दूसरे से भिन्न है, दोनों के अलग-अलग कत्तव्य है। समाज के अन्य सदस्यों के सन्दर्भ में व्यक्ति अपनी प्रस्थिति और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जिन कत्तव्यों का निर्वाह करता है, वह विशिष्ट धर्म कहलाता है। अपने विशिष्ट धर्म का पालन करने पर ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बनता है, प्राचीन हिन्दू धर्म इस तरह की मान्यता में विश्वास करता है। विशिष्ट धर्म के पालन से समूची सामाजिक व्यवस्था के बने रहने में सहायता मिलती है। विशिष्ट धर्म को 'स्वधर्म' भी कहा गया है क्योंकि यह व्यक्ति विशेष का अपना धर्म होता है। इनका भी व्यक्ति के जीवन में अत्यधिक महत्व है, क्योंकि व्यक्ति जिस देश, समाज या परिवार में रहता है, उसके प्रति उसके कुछ कत्तव्य होते हैं। व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए इनका पालन आवश्यक है। ऐसे ही धर्मों के लिए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है- 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण

धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राजधर्म, युग धर्म, मित्र धर्म, गुरू धर्म आदि आते है

धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन का सामाजिक प्रभाव-

परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत एवं अटल नियम है। मानव समाज भी उसी प्रकृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील है। समाज तथा सामाजिक प्रक्रियाओं की इस परिवर्तनशील प्रकृति को स्वीकार करते हुए समाजशास्त्री मैकाइवर लिखते हैं, "समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है।"50 सभी वस्तुएँ परिवर्तन के बहाव में होती है। प्रो0 ग्रीन ने लिखा है कि 'सामाजिक परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक समाज असन्तुलन के निरन्तर दौर से गुजर रहा है। कुछ व्यक्ति एक सम्पूर्ण सन्तुलन की इच्छा रख सकते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास भी करते हैं। परिवर्तन का सम्बन्ध किसी न किसी विषय अथवा वस्तु से होता है तथा परिवर्तन का समय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः किसी वस्तु में दो समय में दिखायी देने वाली भिन्नता ही परिवर्तन है। सम्पूर्ण समाज अथवा उसके किसी भी पक्ष में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। इसलिए सामाजिक एवं धार्मिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी तथ्य है। प्राचीन भारतीय धर्म में परिवर्तन, उसकी एक विशिष्टता ज्ञात होती है। धर्म के परिवर्तन का सातत्य प्रवाह भारत के अतिरिक्त अन्यत्र किसी देश के धर्म में नहीं दिखायी देता। धर्म के स्वरूप, चिन्तन, अन्तर्निहित विचार, उपासना विधि-क्रिया और उसके निहितार्थ फल की कामनापरक भाव भी समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। इस तरह से प्राचीन भारतीय धर्म के इतिहास को देखने से उसमें परिवर्तन के कई सोपान दिखायी देते है। भारत में धर्म को जीवन का मूलाधार माना गया है। प्राचीन भारत का धर्म वस्तुतः साम्प्रदायिक आवरण में संकुचित नहीं अपितु विशद्, महान और उदात्त भावना से जगमगा रहा है।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने अपने-अपने युगानुरूप विचार और चिन्तन के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न परिवर्तित रूपों में धर्म शब्द को परिभाषित किया है और उसके स्वरूप अन्तर्निहित चिन्तन और उपासनागत प्रक्रिया को रूपायित किया है। प्रगति और परिवर्तन प्रत्येक समाज की निरन्तरता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दू धर्म में आवश्यक परिवर्तन के महत्व को स्वीकार कर उनके लिए स्थान रखा गया है। डॉ. राधाकृष्णन ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "किसी भी जीवित समाज में निरन्तर बने रहने की शक्ति और परिवर्तन की शक्ति, दोनों ही होनी चाहिए। किसी असभ्य समाज में एक पीढ़ी से लेकर दूसरी पीढ़ी तक शायद ही कोई प्रगति होती हो। परिवर्तन को बहुत संदेह की दृष्टि से देखा जाता है और सारी मानवीय ऊर्जाएं स्थिति को यथावत बनाए रखने पर केन्द्रित रहती है। परन्तु किसी सभ्य समाज में प्रगति और परिवर्तन ही उसकी गतिविधि की जान होते है। समाज के लिए अन्य कोई वस्तु इतनी हानिकारक नहीं है जितना कि घिसी-पिटी विधियों से पुरानी पड़ गई आदतों से चिपके रहना, जो कि केवल जड़ता के कारण बची चली आ रही है। हिन्दू विचारधारा में आवश्यक परिवर्तनों के लिए स्थान रखा गया है। हमारी ललित-संस्थाएं नष्ट हो जाती है। वे अपने समय में धूम-धाम से रहती है और उसके बाद समाप्त हो जाती है। वे काल की उपज होती है और काल की ही ग्रास बन जाती है। परन्तु हम धर्म को इन संस्थाओं के किसी भी समूह के साथ एक या अभिन्न नहीं समझ सकते। वह इसलिए बना रहता है कि इसकी जड़ें मानवीय प्रकृति में है और वह अपने किसी भी ऐतिहासिक मूर्त रूप के समाप्त हो जाने के बाद भी बचा रहेगा। धर्म की पद्धति परीक्षणात्मक परिवर्तन की है। सब संस्थाएं परीक्षण है, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन भी परीक्षण है। स्पष्ट है कि समाज की प्रगति के लिए परिवर्तन आवश्यक है। एक युग विशेष के विश्वासों, प्रथाओं और संस्थाओं को उसी रूप में दूसरे युगों के लिए स्थानान्तरित नहीं किया जा सका। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन आना आवश्यक है, अन्यथा ये समाज की प्रगति में बाधक बन जाती है। धर्म आवश्यकता के अनुसार बनाये एवं अपनाये जाते हैं, समय विशेष की वे उपज होते हैं और समय बदलने पर उनमें परिवर्तन भी आवश्यक हो जाता है। लेकिन उसके मौलिक सिद्धान्त तथा मान्यताओं को, जो समाज के लिए लाभदायक हो, बनाए रखना चाहिए। क्योंकि शाश्वत मूल्य कभी भी अप्रासंगिक नहीं होते है। समाज में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं, मान्यताओं और विश्वासों का निर्माण होता है और युगों तक ये स्थायी रहते है परन्तु कालान्तर में ये दोषपूर्ण हो जाते हैं, इनके मूल आधार जर्जरित हो जाते हैं। अनेक बार पुरातन संस्थाओं, धारणाओं और अन्धविश्वासों के सहारे जनसाधारण पर कई अत्याचार होते हैं और उनका शोषण किया जाता है। कुछ रूढ़िवादी शक्तिशाली वर्ग इन संस्थाओं के दुरूपयोग से अपनी सर्वोपरि सत्ता स्थापित कर लेते हैं और लोगों का अपने स्वार्थ-सिद्धि के हेतु दमन करते है। जनता शक्तिहीन और साधनविहीन होने से इन अभिशापों को युगों तक सहन करती है। परन्तु धीरे-धीरे समाज में एक ऐसे बुद्धिजीवी और प्रगतिशील वर्ग का प्रादुर्भाव होता है जो ऐसी भ्रष्ट संस्थाओं, सामाजिक अत्याचारों तथा धार्मिक अनाचारों के विरूद्ध अपनी आवाज बुलन्द करता है। वह अपने नवीन सुधारवादी प्रगतिशील विचारों का प्रचार करता है, समाज और धर्म में व्याप्त तत्कालीन दोषों की ओर

जनता का ध्यान आकर्षित करता है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था का संहार करना चाहता है और जनहित की नवीन सुधारवादी योजनाओं का मनोरम और आकर्षक स्वरूप प्रस्तुत करता है। अन्त में, वह विभिन्न साधनों से जनसाधारण को पुरातन दोषपूर्ण व्यवस्था और संस्थाओं के विरूद्ध प्रोत्साहित तथा संगठित करता है। फलतः लोग उनका उन्मूलन करने और नवीन निर्माण करने के लिए आन्दोलन करते हैं ये आन्दोलन कभी हिंसक, रक्तिम और भीषण हो जाते हैं, तो कभी शान्त, रक्तविहीन होते हैं और उनसे सांस्कृतिक परिवर्तन होते हैं, जिनका प्रभाव युगों तक रहता है। ये ही आन्दोलन क्रान्ति कहलाते हैं।

निष्कर्ष:-

धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन एवं नए धर्मों के उदय से धर्म को आचरण की संहिता तथा नैतिकता का रूप प्रदान किया गया। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य के उपदेशों से समाज में नैतिकता तथा सदाचरण को बढ़ावा मिला। बौद्ध धर्म के 'दसशील' के सिद्धान्त ने इसमें अनन्यतम योगदान दिया। सत्य को सबसे बड़ा धर्म माना गया तथा अहिंसा पर विशेष बल दिया गया जिससे जीवों की हत्या कम होने लगी। इसका प्रभाव सम्राट अशोक के अभिलेखों में भी देखा जा सकता है। धर्म को नैतिकता का अधिष्ठाता तथा मनुष्यता का मानदण्ड माना गया जिससे मानवतावाद के विकास में सहयोग मिला। क्योंकि धर्म को लोक व्यवस्था तथा नैतिक व्यवस्था (ऋत) का पर्याय माना गया है। अतः प्राचीन भारतीय धर्म की अवधारणा जड़ता की सीमाओं का अतिक्रमण कर गतिशीलता के एक परिवर्तनशील धरातल पर अपना आकार ग्रहण कर देश-काल तथा परिस्थिति के साथ संदर्भित होकर प्रस्फुटित हुई। समाज में बढ़ते अहंकार तथा रूढ़िवादिता को रोकने का कार्य धर्म की इसी विचारधारा ने किया।

संदर्भ ग्रन्थ

महा0, अनुशासन पर्व, 113.8

वही, शान्तिपर्व, 110.10-11

वही, भगवद्गीता, 2.50 तथा अन्य श्लोक

मनु0, 10.63 तथा 6.92

वही, 4.241; 'मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठ लोष्ठ समं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यानि धर्मस्तमनुगच्छति।।'

मुकर्जी, राधाकमल- भारतीय समाज विन्यास, पृ0 46

राधाकृष्णन्- धर्म और समाज, पृ0 120

Kane, P.V. – History of Dharmshastra.

महा0, अनुशासनपर्व, 113.8-9

Woodruff, Sir Jahn – Is India Civilized, P. 246-48.

Dr. Radha Krishnan- The Hindu View of Life, P. 21

कल्याण धर्मांक से उद्धृत, पृ0 398

Crambe – The Cultural Heritage of India, IV, P.6

श्रीमद्भागवत् गीता, 7.11.8-12

Corresponding Author

Rajiv Sharma*

Assistant Professor, RKSD College of Education, Kaithal, Haryana-136027